पैरवी संवाद

पैरवी

पब्लिक एडवोकेसी इनिशिएटिव्ज फॉर राइट्स एण्ड वैल्यूज इन इण्डिया (पैरवी)

वर्ष 10 अंक 2 मार्च–अप्रैल 2009

इस अंक में

- दलित शब्द के मायने
- ग्रामीण भारत में दलित
- स्वतंत्रता के दलित सरोकार
- डरबन समीक्षा सम्मेलन : अपेक्षाऐं और उपलब्धियाँ
- मंदी और भारत की दोहरी पहचान
- उदारीकरण की हिमायती अदालतें
- समाचार जगत से
- पैरवी गतिविधियाँ
- आगामी गतिविधियाँ

पैरवी कार्यकारी समिति

श्री अनुपम मिश्र (अध्यक्ष)
प्रो. संजय भट्ट (कोषाध्यक्ष)
श्रीमती वर्षा जोशी (सचिव)
श्री पी.एम. पॉल (सदस्य)
श्रीमती रंजना सहगल (सदस्य)
श्री भारत भूषण (सदस्य)

संपादक मण्डल.....

प्रो. संजय भट्ट
अजय के. झा
रजनीश

प्रिय साथियो,

हमें पैरवी संवाद का नया अंक आपको सौंपते हुए अत्यंत हर्ष हो रहा है। इस अंक में हमने दलितों की सामाजिक परिस्थितियों पर विमर्श की दृष्टि से अपनी बात रखने का प्रयास किया है।

यह सर्वविदित है कि दलित भारतीय समाज का वह हिस्सा हैं जो कि पीढ़ियों से अपने से उच्च वर्ग के सेवाकर्म में लगे हुए हैं। यहां यह भी प्रश्न उठता है कि वे इस सेवाकर्म में लगे हुए हैं या उन्हें लगाए रखा गया है ? यह भी विचारणीय है कि दलित शब्द के मायने क्या हैं और यह समुदाय किन संदर्भों में दलित है ?

संभवतः यह प्रश्न बचकाना माने जा सकते हैं, परंतु इन प्रश्नों के विश्लेषण में जाए बिना दलित या दलितों के अधिकारों के बारे में गंभीरता से बात करना शायद सहज नहीं है। आज जबकि दलितों के लिए अत्याचार निरोधक कानून, नियम जैसी कानूनी सुविधाऐं मुहैया कराई गई हैं तब भी दलितों के जीवनस्तर में कितना सुधार हुआ है, यह अपने-आप में एक महत्वपूर्ण प्रश्न है, और इसी के साथ यह प्रश्न भी खड़ा होता है कि आख़िर वे कौन से करण हैं जिनके चलते यह वर्ग आज भी अपने अधिकारों से वंचित है।

देश की आबादी में 250 मिलियन की जनसंख्या वाला यह वर्ग अत्याचार और भेदभाव की रोकथाम के लिए अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर बनाये गए नियमों, देश में लागू किये गए कानूनों, संविधान में दिये गए अधिकारों के बावजूद रोज़मर्रा के जीवन में विभिन्न प्रकार की यातनाओं का आज भी शिकार है, जिसके विरोध में व स्थितियों की बेहतरी के लिए तमाम संगठनों द्वारा निरंतर प्रयास किये जा रहे हैं।

हमने इस अंक में इन्हीं सामान्य किंतु महत्वपूर्ण प्रश्नों के जवाब ढूंढ़ने के साथ-साथ वैश्विक वित्तीय संकट के दुष्प्रभाव और श्रमिक अधिकारों के ख़िलाफ़ न्यायपालिका के आदेश जैसे गंभीर विषयों पर भी महत्वपूर्ण लेख प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। हम आशा करते हैं कि पैरवी संवाद का यह अंक आपको ज्ञानवर्द्धक व रोचक लगेगा। हमेशा की तरह हम आपकी प्रतिक्रियाओं से सीखने की अपेक्षा रखते हैं।

धन्यवाद सहित
संपादक मंडल

दलित शब्द के मायने

वर्तमान में जबकि दलित शब्द सिर्फ एक समुदाय विशेष का पर्याय बन चुका है तब इस शब्द के सही मायनों में जाना भी बेहद ज़रूरी हो गया है। एक शब्द जब किसी समुदाय की पहचान बन जाए तो इस पर विचार करना आवश्यक हो जाता है कि आख़िर क्यों वह शब्द एक पूरे समुदाय का प्रतिनिधित्व करता है?

दलित शब्द की उत्पत्ति में अगर हम जाऐं तो यह शब्द संस्कृत के 'दल' से बना है, जिसका अर्थ है – अन्य हिस्से से टूटा हुआ, तंगहाल, जिसके साथ ठीक व्यवहार न किया जाता हो, दबा या कुचला हुआ। आर्य समाज द्वारा शुरू किये गए कार्यक्रम ''दलितोद्धार'' के बाद यह शब्द किसी समुदाय विशेष के संदर्भ में प्रयुक्त हुआ। दबे हुए या कुचले हुए के संदर्भ में ही एक समुदाय विशेष के लिए 1930 में यह शब्द हिन्दी और मराठी में उपयोग किया गया। 1930 में पूना से प्रकाशित समाचार-पत्र ''दलित-बंधु'' में इस शब्द का प्रयोग किया गया और संविधान निर्मात्री सभा के अध्यक्ष डॉ. भीमराव रामजी अम्बेडकर ने अपने उद्‌बोधनों में एक समुदाय विशेष के लिए इस शब्द का प्रयोग किया।

शूद्र, अंत्याज, अवर्ण, अछूत और महात्मा गांधी द्वारा प्रचलित 'हरिजन' अर्थात ईश्वर के जन (अछूत माने जाने वाले लोगों के साथ भेदभाव समाप्त करने के लिए महात्मा गांधी ने इस शब्द का उपयोग किया था) जैसे संबोधनों की परिधि में विभिन्न जातियों का यह समुदाय आज अपने लिए 'दलित' शब्द को अपना चुका है। शाब्दिक अर्थ के संदर्भ में इस समुदाय द्वारा 'दलित' शब्द को अपनाना उसकी सामाजिक परिस्थितियों को तो स्पष्ट करता ही है साथ ही मनोवैज्ञानिक दशाओं को भी स्पष्ट करता है।

समुदाय विशेष के लिए 'दलित' शब्द का प्रयोग किया जाना और उस समुदाय द्वारा सम्बोधन के रूप में इस शब्द को स्वीकारना दोनों ही प्रक्रियाऐं एक नज़र में समान दिखाई देती हैं परन्तु मूलबोध में दृष्टिकोण का फ़र्क है, किसी हद तक यह फ़र्क दया और रोष का भी है। मानव स्वभाव में किसी को दबा या कुचला हुआ मान लेने पर स्वयं की श्रेष्ठता का मिथ्या-अभिमान और उसके प्रति दया प्रस्फुटित होना एक साधारण सी बात है क्योंकि यह हमारे अहं को तुष्टि प्रदान करती है, परंतु स्वयं को दबा या कुचला हुआ मान लेना एक साधारण बात नहीं है क्योंकि यह सबसे कमज़ोर होने, अश्रेष्ठ होने, अक्षम होने, वंचित होने की तमाम कुंठाऐं उत्पन्न करता है। और यह कुंठाऐं सम्मिलित होकर उस रोष को जन्म देती हैं जो व्यक्तिगत से बढ़ते हुए समुदाय का सामुहिक आक्रोश हो जाता है। आज तमाम संगठनों द्वारा दलित अधिकारों के लिए किये जा रहे आंदोलन के मूल में यही आक्रोश और इस आक्रोशजनित प्रश्नों के जवाब की तलाश शामिल है।

'दलित' के शाब्दिक अर्थ के अनुसार हर वह व्यक्ति जो आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक रूप से दबा हुआ है अर्थात् जिसका दैनिक जीवन भी किसी अन्य की इच्छा से नियंत्रित है, दलित है, वह किसी भी धर्म या जाति का हो सकता है। किन्तु आज यह शब्द एक समुदाय विशेष का पर्याय बन गया है। दरअस्ल वर्षों पहले निर्मित वर्ण व्यवस्था और मनुवादी नियमावली ने इस एक मात्र वर्ग के लिए कोई अधिकार सुरक्षित नहीं किया, यह वर्ग मात्र सेवा कार्य के लिए था, इसके लिए सिर्फ कर्तव्य सुनिश्चित किये गए थे। इस वर्ग का जीवन अन्य उच्च वर्गों की इच्छा पर निर्भर था और दैनिक जीवन के कार्यकलाप भी। हज़ारों वर्षों से व्यवहार में शामिल यह नियमावली और मनुवादी मानसिकता आज भी नहीं बदली है। अब जबकि संविधान ने सबको बराबरी का अधिकार दे दिया है, इस वर्ग को भी अन्य वर्गों के समान अधिकार और सुविधाओं तक पहुँच के अवसर प्रदान किये है तब भी इसके सदस्यों को अधिकारों से वंचित रखने के लिए प्रारंभ में उसी नियमावली का प्रयोग किया जाता है और फिर हिंसा, प्रताड़ना के नए-नए आधार और तरीक़े इस्तेमाल में लाए जाते हैं। आज भी कितने गाँवों में इस वर्ग के सदस्य मंदिरों में प्रवेश कर सकते हैं, सार्वजनिक जलस्रोतों का उपयोग कर सकते हैं, उच्च वर्ग के घरों में बराबरी से बैठ सकते हैं, कितने शासकीय विद्यालयों में अन्य बच्चों के साथ इस वर्ग के बच्चे बैठ सकते हैं? ऐसे ही कुछ आसान सवालों के जवाब पर ग़ौर करने से ही स्पष्ट हो जाता है कि आज भी तथाकथित उच्च वर्ग इस वर्ग के अधिकारों का दमन कर रहा है।

धर्म, जाति को आधार बनाकर रोज़गार, शिक्षा, स्वास्थ्य व कई अन्य सुविधाओं से वंचित रखने के लिए हज़ारों सालों से व्यवहार में लाई जा रही साजिशों (जो निरंतर व्यवहार में रहने के कारण परंपरा में परिणित हो चुकी हैं) ने इस समुदाय के अधिकांश हिस्से को नियतिवादी बना दिया है। यही उन तमाम साजिशों का मक़सद भी है, क्योंकि अत्याचार, अपमान को अपनी नियति मान लेना विरोध में उठ सकने वाले हर कदम को पहले ही बेड़ियों में जकड़ देता है।

इन साजिशों और मनुवादी मानसिकता के चलते यह वह वर्ग है जिससे सदैव उसके अधिकार छीने गए हैं, सुनियोजित ढंग से जिसका दमन किया गया है, अपनी श्रेष्ठता के दंभ में डूबे उच्च वर्ग द्वारा जिसे बद से बदतर स्थिति में और अपने नियंत्रण में बनाये रखने के लिए निरंतर प्रताड़ित किया जाता है। अब चाहे इसे 'दलित – यानि दबा हुआ' संबोधित किया जाए या फिर 'दमित – यानि दबाया गया'।

ग्रामीण भारत में दलित

सूत्र वाक्य के रूप में यह अक्सर सुनाई देता है कि 'दलितों के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक व राजनैतिक अधिकारों का हनन किया जा रहा है।' यह स्पष्ट है कि मानवाधिकारों को जिन श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है उसमें यह स्पष्ट वर्गीकरण है। हम यहां सारे मानवाधिकारों के केन्द्र में गौरवपूर्ण जीवन के अधिकार (Right to Dignity) को मानते हुए वर्तमान परिदृश्य के संदर्भ में अपनी बात रखने का प्रयास कर रहे हैं।

सामाजिक परिदृश्य (दैनिक जीवन के संदर्भ में)

सामाजिक रूप से दलित समुदाय की क्या स्थिति है, यह स्पष्ट करने के लिए किसी व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। देश की आबादी का 73 प्रतिशत हिस्सा ग्रामीण है और देश में दलित समुदाय की जनसंख्या 250 मिलियन है। स्पष्ट है कि ग्रामीण परिस्थितियाँ हमारे देश की सामाजिक स्थिति का प्रतिनिधित्व करती हैं। गाँवों में दलित समुदाय को कितने सामाजिक अधिकार प्राप्त हैं, इसे दैनिक जीवन की सामान्य दिनचर्या से समझा जा सकता है। उत्तर प्रदेश के अधिकांश गाँवों में दलित परिवारों के घरों में पीने और दैनिक उपयोग के लिए पानी सहज उपलब्ध नहीं है क्योंकि सार्वजनिक जलस्रोतों का उपयोग करने का भी उन्हें अधिकार नहीं है। आज भी मंदिरों के सामने से निकलने के लिए उन्हें अपने पैरों से चप्पल निकालनी होती है। यह स्थिति सिर्फ उत्तर प्रदेश की नहीं है, कमोबेश भारत के सभी ग्रामीण क्षेत्रों की है।

सभी ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी दलितों का मंदिरों में प्रवेश वर्जित है, सामुहिक भोज के अवसरों पर वे अन्य जातियों के साथ नहीं बैठ सकते, यहां तक कि कई क्षेत्रों में तो उन्हें अपने घर से बर्तन लाने होते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में मैला साफ करना इस समुदाय की एक जाति के लिए अनिवार्य कर्म है जिसके ऐवज में उसे कोई नकद पारिश्रमिक प्राप्त नहीं है बल्कि प्रत्येक घर से रोटियां या थोड़ा सा अनाज मिलता है। शासकीय विद्यालयों में इस समुदाय के बच्चे उच्च जातियों के बच्चों से अलग बैठने के लिए विवश किये जाते हैं। मध्याह्न भोजन पकाने वाली महिला यदि दलित समुदाय की है तो उच्च जाति के बच्चों और उनके अभिवावकों द्वारा उसका बहिष्कार किया जाता है। वस्तुओं के आदान-प्रदान में पूरी सावधानी बरती जाती है कि कहीं शरीर छू न जाए और यह सिर्फ ग्रामीण अंचलों में ही नहीं बल्कि महानगरीय परिवेश में भी उतनी ही तीवृता से मौजूद है। इस समुदाय के सदस्यों के लिए अभद्रतापूर्ण भाषा का उपयोग करना ग्रामीण क्षेत्रों में एक आम बात है जो कि इस हद तक व्यवहार में है कि दलितों के लिए यह मान्य भाषा बन चुकी है। बुन्देलखण्ड (मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश का एक बड़ा हिस्सा) के ग्रामीण अंचल में इस समुदाय के सदस्यों का सीताराम से सितउआ, लल्लीराम से ललुआ और रतनीदेवी से रतनिया हो जाने से लेकर थोड़े से क्रोध में ही सिर्फ़ जातिसूचक गाली से संबोधित किया जाना एक आम घटना है।

इसके अलावा मूलभूत सुविधाओं तक पहुँच के मामले में भी इस समुदाय के सदस्यों को जानबूझकर दूर रखने का प्रयास किया जाता है। पी.डी.एस., अन्नपूर्णा, अन्त्योदय जैसी योजनाऐं जो कि खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित करने के दृष्टिकोण से बड़ी सफलता के रूप में देखी जा रही हैं, इस समुदाय की खाद्य सुरक्षा को किस हद तक सुनिश्चित कर पा रही हैं और इसके पीछे क्या वजहें हैं? छत्तीसगढ़ में एक ओर जहां पी.डी.एस. के अंतर्गत 50 पैसे प्रति किलो की दर पर नमक उपलब्ध कराने की सफलता है वहीं दूसरी ओर ऐसे अनगिनत दलित परिवार हैं जिनके पास राशन कार्ड ही नहीं है, जिनके पास कार्ड है उनको खाद्यान्न उपलब्ध नहीं हो पाता और कई परिवारों का कार्ड वितरण केन्द्र के संचालक के पास है जिस पर फर्जी प्रविष्टियां हैं। देश के अधिकांश हिस्सों में में इस समुदाय के सदस्यों को निर्धारित से अधिक कीमत पर खाद्यान्न प्रदान किया जाता है और कई बार यह कहकर टाल दिया जाता है कि खाद्यान्न समाप्त हो चुका है (जिसे कि खुले बाजार में बेच दिया जाता है)। इन योजनाओं की कमोबेश सभी स्थानों पर यही स्थिति है।

आर्थिक परिदृश्य

गौरवपूर्ण जीवन जीने के लिए मूलभूत आवश्यकताओं की आपूर्ति एक अहम बिंदु है, जिसके लिए आर्थिक सक्षमता आवश्यक है। ग्रामीण क्षेत्रों में दलित आज भी या तो अपने पारंपरिक व्यवसाय में संलग्न हैं या फिर मज़दूरी पर आश्रित हैं। वे सभी कार्य जिनको करने में हर व्यक्ति को घिन होती है, इस समुदाय की आजीविका हैं, जैसे कि मैला साफ करना, मृत जानवरों को फेंकना, मृत जानवरों की चमड़ी उतारना आदि। इसके अलावा कृषि मज़दूरी के साथ-साथ उच्च जाति के सदस्यों के घरों में तमाम तरह की बेगारी करना भी इस समुदाय के लिए विवशता है क्योंकि इनके पास आजीविका के अन्य स्थाई साधन उपलब्ध नहीं हैं। खेतों में काम करने के ऐवज में भी उन्हें जितनी मज़दूरी मिलती है वह किसी भी मायने में पर्याप्त या उचित नहीं कही जा सकती। मध्यप्रदेश के कई अंचलों में भूमिस्वामियों के खेतों में फसल काटने की मज़दूरी पचासी या बीसौरी के रूप में दी जाती है (यह फसल की किस्म पर निर्भर करता है) यानि कि जब भूमिस्वामी के लिए पचास या बीस गट्ठे फसल के काट लिए जाते हैं तब मज़दूर अपने लिए एक गट्ठा फसल का पाता है। अब जबकि कुछ स्थितियां बदली हैं तो प्रतिदिन 40 से 50 रुपये रोज़ की मज़दूरी का भी समावेश हुआ है। परंतु फसल बोने, खेतों में पानी देने, कटाई जैसे कार्य होने के बावजूद कृषि कार्य निरंतर वर्ष भर नहीं चलता, और मज़दूर उच्च वर्ग के सदस्यों के लिए अन्य कार्य करने को विवश होता है, जिसके ऐवज़ में उसे कई क्षेत्रों में अभी भी सिर्फ भोजन प्राप्त होता है और यदा-कदा आवश्यकता पड़ने पर आर्थिक मदद।

वर्तमान समय में जबकि सरकार

द्वारा राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार गारंटी अधिनियम जैसा कानून क्रियान्वित किया जा रहा है जिसके ज़रिये यह वर्ग अपनी आर्थिक स्थिति में थोड़ा सुधार कर सकता है, तो उसमें भी इस वर्ग का शोषण स्पष्ट नज़र आता है। ज़ाहिर है कि अकुशल शारीरिक श्रम करने वालों में इस वर्ग की ही संख्या सबसे अधिक है और अधिकांश सदस्य अशिक्षित हैं। परिणाम स्वरूप मस्टर रोल में काम के दिनों की गलत प्रविष्टियों, निर्धारित से कम मज़दूरी के भुगतान, और यदि लाभुक भी दलित है तो उससे तमाम कागज़ी कार्यवाहियों के लिए रिश्वत की मांग के कई उदाहरण सामने हैं।

भूमिहीनों को शासकीय भूमि के आबंटन में भी धांधली की बात आम सुनाई देती है। कई स्थानों पर दलितों को आबंटित की जाने वाली भूमि सवर्णों के नाम कर दी गई। दलितों को आबंटित की गई भूमि पर नाम तो दलित का है परंतु कब्जा किसी और का है, ऐसे में वह अपनी ही भूमि का उपयोग नहीं कर पा रहा है। इसी से स्पष्ट होता है कि जिस वर्ग के पास अपनी कृषि भूमि नहीं है, स्थाई रोज़गार नहीं है, आर्थिक सुदृढ़ता के अवसरों में जिसका शोषण किया जा रहा है, जो जीविकोपार्जन के लिए मज़दूरी, उच्च वर्ग की बेगारी और घृणित कार्यों पर आश्रित है वह किस हद तक आर्थिक सुदृढ़ हो सकता है और बेहतर जीवन की कल्पना कर सकता है।

सांस्कृतिक परिदृश्य

हमारे देश में विभिन्न संस्कृतियों के मिलाप और एकीकरण की बात बड़े ही गर्व से कही जाती है और इस बात से सभी सहमत हैं कि हर वर्ग की, क्षेत्र की अपनी अलग और अनूठी संस्कृति है। किसी क्षेत्र की संस्कृति को निर्मित करने में वहां के प्रत्येक वर्ग की परंपराऐं और मान्यताऐं प्रमुख कारक होती हैं। हमारे संविधान में भी प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म, संस्कृति के पालन की स्वतंत्रता दी गई है परंतु वास्तविकता में दलितों को अपनी परंपराओं, संस्कृति के पालन की उतनी स्वतंत्रता नहीं है। उत्तरप्रदेश, बिहार के सुदूर ग्रामीण अंचलों में दलित परिवारों में धूमधाम से विवाह करना, धार्मिक आयोजनों में अन्य समुदायों की तरह सक्रिय भागीदारी करना खतरे से खाली नहीं है। अभी भी देश के अंदरूनी ग्रामीण अंचलों में तो यहां तक स्थिति है कि इस समुदाय के सदस्य आधुनिक वस्त्र नहीं पहन सकते, उच्च वर्ग के लोगों के सामने साइकिल पर नहीं चल सकते, धूप का चश्मा नहीं लगा सकते।

धार्मिक मान्यताओं के मामले में भी इस वर्ग की अपनी स्वतंत्रता नहीं है। वर्षों से सामाजिक, आर्थिक और वैचारिक गुलामी सहते और सुविधाओं से दूर रहते इस वर्ग ने जब अपनी स्वतंत्रता का इस्तेमाल कर ईसाई धर्म को अपनाना शुरू किया तो जो विवाद उत्पन्न हुआ उससे सभी वाकिफ़ हैं (जबकि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार किसी धर्म को मानने का अधिकार है)। और उसके बाद घर वापसी के नाम पर चलाई गई मुहिम, जिसमें कहा गया कि यह वर्ग हिन्दू समाज का एक अभिन्न हिस्सा है (जिन आदिवासियों को पहले भारत का मूल निवासी ही नहीं माना जा रहा था, हिन्दुओं का जिनसे कोई वास्ता नहीं था, वे भी इस मुहिम में हिन्दू समाज का अभिन्न हिस्सा कहे गए) यह स्पष्ट करती है कि इस वर्ग की अपनी संस्कृति स्वीकार्य नहीं है, वह किसी धर्म के शरणागत ही होगी। हालांकि दलितों को अपना अभिन्न हिस्सा कहने वाले, अपने भाई का दर्जा देने वाले तथाकथित धर्मावलम्बियों ने यह स्पष्ट नहीं किया कि घर वापसी के बाद इस समुदाय के सदस्यों का दर्जा क्या होगा, क्या उन्हें भी अन्य समुदायों के सदस्यों के समान बराबरी का अधिकार प्राप्त होगा या फिर से दलित ही रहेंगे। जिस जाति के सदस्य होने के कारण वे आज तक प्रताड़ित और बहिष्कृत होते रहे हैं, क्या

फिर से वही जाति उनकी पहचान होगी और सामाजिक स्थितियों को सुनिश्चित करेगी।

राजनैतिक परिदृश्य

लोकतांत्रिक व्यवस्था में दलितों की राजनैतिक सहभागिता को सुनिश्चित करने के लिए आरक्षण व्यवस्था का उपयोग किया जा रहा है। शिक्षा, शासकीय नौकरियों के अलावा पंचायत से लेकर विधानसभा तक के चुनावों में दलित सीटों का आरक्षण निश्चित ही एक अच्छा संकेत है, परंतु चुनाव जीत जाने के बाद भी दलितों को उनके अधिकारों से दूर रखने के लिए तमाम हथकण्डे अपनाए जाते हैं। पंचायत चुनावों में जिन भी पंचायतों में दलित सरपंच, पंचायत सचिव या ग्राम प्रधान/मुखिया चुने गए हैं वहां यह आलम है कि वे सिर्फ नाम के लिए ही हैं, उन्हें प्रभावशाली वर्ग द्वारा ही संचालित किया जाता है। कई स्थानों पर तो बाकायदा चुने जाने के बाद भी दलित अपने अधिकार और पद, जिसके कि वे पात्र हैं, प्राप्त नहीं कर पाते और अविश्वास प्रस्ताव दलितों से उनके अधिकार छीनने का उच्च जाति द्वारा निकाला गया सबसे अच्छा रास्ता है। जब कभी भी दलित चुने गए हैं उनके खिलाफ हिंसा की घटनाऐं सामने आई हैं। पंचायत में मुख्यतः दो तरह से भेदभाव किया जाता है। एक- दलितों को पंचायत की कार्यवाही, विकास कार्यों, योजनाओं से दूर रखा जाता है। दूसरा- जहाँ कहीं भी आरक्षण के बल पर दलित सत्ता में हैं, वे निशाना बनाए जाते हैं और एक समय के बाद उनका पद अमान्य और रद्द घोषित कर दिया जाता है। पंचायतों में दलित बस्तियों में विकास कार्य भी जाति पहचान का शिकार होते हैं और उन्हें ठीक ढंग से पूरा नहीं किया जाता और न ही इनके योजना निर्माण और क्रियान्वयन प्रक्रिया में दलितों को शामिल किया जाता है।

"बनारस जिले के हरूंआ विकासखण्ड के ग्राम वाजीदपुर के निवासी श्री प्रेमनारायण, जो कि चमार समुदाय के सदस्य हैं, सितम्बर 2005 में ग्राम प्रधान चुने गए थे और 8 सितम्बर 2005 को पंचायत समिति का गठन हुआ था। निर्गामी समिति द्वारा श्री नारायण को ग्राम कार्यालय के कार्य रजिस्टर, सम्पत्ति रजिस्टर जो कि गाँव के प्रबंधन से संबंधित हैं आदि कई दस्तावेज़ नहीं

सौंपे गए। साथ ही दैनिक रजिस्टर संभालने को नकारने के लिए निर्गामी समिति ने चलायमान सम्पत्ति/वस्तुओं को सौंपने से इन्कार करते हुए कार्यालय में ही रखा। यहाँ तक कि श्री नारायण को उच्च जाति के सदस्यों द्वारा कई दस्तावेजों पर हस्ताक्षर करने के लिए भी बाध्य किया गया। इस सबके परिणाम स्वरूप वे ग्राम प्रधान के रूप में अपने कर्तव्यों के निर्वाह में भी असमर्थ रहे।''

एक ओर जहां चयनित प्रतिनिधियों के साथ इस तरह की घटनाऐं सामने आती हैं वहीं दूसरी ओर दलित समुदाय के मतदाताओं को किसी निश्चित व्यक्ति के पक्ष में मतदान करने के लिए बाध्य किया जाता है, जिसके लिए मत ख़रीदने से लेकर लालच और धमकाने तक कई तरह के हथकण्डे अपनाए जाते हैं। दलित मतदाताओं को अपने मताधिकार का उपयोग करने से रोकना एक और तरीका है, जिनके नाम पर किसी विशेष व्यक्ति के पक्ष में फ़र्जी मतदान किया जाता है।

यह स्पष्ट करता है कि ग्रामीण स्तर पर विकास कार्य और योजना निर्माण में दलित समुदाय की सहभागिता को किस प्रकार प्रभावित किया जाता है। लोकतांत्रित व्यवस्था का गौरव-गान करने वाली राजनैतिक व्यवस्था में किस तरह समाज में हाशिए में रह रहे समुदाय के राजनैतिक अधिकारों का हनन किया जाता है।

दलित और कानून व्यवस्था

दलितों के लिए अनुसूचित जाति/जनजाति (अत्याचार निरोधक) अधिनियम, 1989 और नियम, 1995 जैसे कानून होने के बावजूद दलितों के विरूद्ध अत्याचार की स्थितियों में कोई सार्थक परिवर्तन नज़र नहीं आता। देश के विभिन्न राज्यों में दलित अत्याचार के आंकड़ों में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है। यदि एन.सी.आर.बी. के आंकड़े ही देखे जाऐं तो उत्तरप्रदेश, जहां कि सर्वाधिक दलित जनसंख्या है, में 2005 में दर्ज 4403 घटनाओं के मुकाबले वर्ष 2007 में 6148 घटनाऐं दर्ज हुई हैं। इसी प्रकार आंध्रप्रदेश, बिहार, छत्तीसगढ़, झारखण्ड, तमिलनाडु में क्रमशः 3632, 1906, 951, 760, 139 के मुकाबले 4136, 2851, 1126, 806, 1760 घटनाऐं दर्ज हुई हैं।

इसके अतिरिक्त यह भी एक तथ्य है कि कई घटनाऐं ऐसी होती हैं जो दर्ज ही नहीं होतीं। ग्रामीण स्तर पर दलितों के खिलाफ़ अत्याचार, मारपीट, अभद्र व्यवहार की ऐसी कई घटनाऐं होती हैं जिनके ख़िलाफ़ पुलिस में कोई प्राथमिकी दर्ज नहीं कराई जाती। ग्रामीण स्तर पर ही दबंग व्यक्तियों द्वारा मामले को दबा दिया जाता है।

एस.सी./एस.टी. एक्ट होने के बावजूद दलितों को न्याय नहीं मिल पाता है। इसमें पुलिस प्रशासन की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। दलित विरोधी मानसिकता, स्थानीय पुलिस प्रशासन पर प्रभावशाली जातियों के प्रभाव और राजनैतिक हस्तक्षेप के कारण या तो पुलिस प्राथमिकी (एफ.आई.आर.) ही दर्ज नहीं करती या फिर प्राथमिकी में उचित धाराओं का प्रयोग नहीं किया जाता। इसके अतिरिक्त केस वापस लेने और समझौता करने के लिए भी पुलिस द्वारा दबाव बनाया जाना और पुलिस थानों में दलितों के साथ किया जाने वाला अभद्रतापूर्ण व्यवहार भी दलितों को न्याय की पहुँच से दूर रखता है।

एक ओर जहां अधिनियम के अनुसार जांच अधिकारियों की अपर्याप्ता है वहीं दूसरी ओर अधिवक्ताओं में भी कानून के बारे में पूरी जानकारी न होना और प्रावधान के अनुसार विशिष्ट न्यायालयों का अभाव भी अधिनियम के अनुरूप दलितों को न्याय दिलाने में बाधक है। जबकि ऐसे भी उदाहरण मौजूद हैं जहां पुलिस की जानकारी में दलितों पर अत्याचार की घटनाऐं अंजाम दी गई हैं।

दरअस्ल दलितों के शोषण की सामंतवादी प्रवृत्ति आज भी अपने चरम पर है, उन्हें अपने से नीचा और अपने पर आश्रित मानने वाली विचारधारा के कारण कानून व्यवस्था में दलितों के लिए संवेदनहीनता बढ़ी है। सख्त कानूनी धाराऐं होने के बावजूद स्थानीय प्रभावशाली व्यक्तियों और तथाकथित उच्च वर्ग का पोषण करने वाली राजनीति के प्रभाव के चलते यह धाराऐं सिर्फ़ कानून की किताबों में ही बंद हैं। इसके अतिरिक्त अधिकांश राज्यों और केन्द्र शासित प्रदेशों में दलितों के विरूद्ध अपराधों की बढ़ती हुई घटनाओं के ग्राफ को प्रदर्शित करने की प्रवृत्ति ने भी प्रकरण दर्ज होने को प्रभावित किया है, क्योंकि यह ग्राफ पुलिस प्रशासन और कानून व्यवस्था पर प्रश्न चिन्ह लगाता है।

स्वतंत्रता के दलित सरोकार

श्यौराज सिंह बेचैन

15 अगस्त 1947 को देश आज़ाद हुआ तब से आज तक हम स्वतंत्रता की एक पक्षीय व्याख्या सुनते चले आ रहे हैं। लेकिन अम्बेडकरी चेतना इस व्याख्या से कभी संतुष्ट नहीं रही। बल्कि आपत्ति और असंतोष का मूल मुद्दा स्वतंत्रता के स्वरूप को लेकर है। स्वतंत्रता किसी एकमुश्त अमूर्त उपलब्धि का नाम नहीं है, बल्कि किसी भी देश के नागरिकों की देशीय दासता से मुक्ति भी स्वतंत्रता प्राप्ति का ज़रूरी विषय है।

भारतीय दलितों की दासता राजनीतिक रूप में कम, सामाजिक स्वरूप की ज्यादा है। सामाजिक दासता के कारण उनकी शैक्षिक, वैचारिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्थितियां अत्यंत शोचनीय बनी हुई हैं। नतीजा देश की चौथाई संख्या वाली जनता निम्नतर जीवन स्तर को जीती है, जिससे वह देश के युगीन विकास में अपना कोई उल्लेखनीय योगदान करने योग्य नहीं बन पा रही। सब से शोषण-युक्त सेवाऐं ली जा रही हैं। नतीजा यह कि दुनिया के उन्नत देशों के साथ स्पर्धा में देश पिछड़ने लगा है। बाहरी हमलों से देश की रक्षा करना हमारा पहला कर्तव्य है, परंतु देश की भीतरी स्थितियों में झांकना भी हमारा ही कर्तव्य है। हमें चिंता हो कि स्वतंत्र देश के हर नागरिक की कम-से-कम मूलभूत आवश्यकताऐं तो पूरी हों।

आवास, शिक्षा, स्वास्थ्य, रोज़गार और अभिव्यक्ति का समान अधिकार संविधान से बाहर आकर उसे व्यवहार में भी मिलना चाहिए। इसे सैद्धांतिक रूप से कागजों में उपलब्ध करा देना काफी नहीं है, अपितु एक कल्याणकारी राज्य की ज़िम्मेदारी बनती है कि वह लोगों को अधिकार पाने योग्य जागरूक व सामर्थ्य संपन्न भी बनाए।

भारतीय समाज की वर्णगत संरचना कुछ इस तरह की बनी है कि यहां एक जाति दूसरी जाति के विकास को अपना ह्रास समझती है। इसलिए उसे अपने से नीचे पड़े देश-बंधुओं को ऊपर उठाने में कोई दिलचस्पी नहीं है। आज़ादी हासिल हुए अरसा बीत गया परंतु देश में अभी पूर्ण साक्षरता नहीं हो सकी है। ''साधनहीन की एक बिटिया भी भूख से मरती है और संपन्न वर्ग के बच्चों की फौज को क्या कमी है?'' यह भौतिक असंतुलन अनेक झगड़ों की जड़ बना हुआ है। संख्याधिक्य के बावजूद उन्नत देश के रूप में चीन का उदाहरण हमारे सामने है, पर ज्ञान के क्षेत्र में हमारा इतना विकास नहीं हुआ कि तकनीक में भी हम इतने आगे हों, आज भी करोड़ों लोग पैदल यात्राऐं कर रहे हैं, उन्हें न्यूनतम परिवहन साधन मुहैया हो सके। मनुष्य जीवन के प्रति जिम्मेदार सुरक्षा संस्कृति के हम अभ्यस्त ही नहीं हैं।

जन स्वार्थी तत्वों को ज्ञान का केवल व्यवसाय-भर करना है उनके लिए शिक्षा, मीडिया और साहित्य के क्षेत्र खुले हुए हैं, जबकि दुनिया में लोग ज्ञान प्राप्त करके देश-समाज की तस्वीर बदल रहे हैं। इधर दलितजन व्यावसायिक होती जा रही इस गुणकारी शिक्षा 'क्वालिटी एजुकेशन' से वंचित हैं। यह हम जानते हैं कि निर्णायक स्थितियां संशय पैदा करती हैं, परंतु जन-प्रतिनिधियों के पास जब व्यापक समाज की चिंता ही नहीं होती या फिर वे रचनात्मक योगदान करने के योग्य ही नहीं होते तब वे प्रतिनिधि होकर भी अपेक्षित प्रतिनिधित्व नहीं कर पाते। यहां अक्षमता के अलावा निष्ठा का प्रश्न भी महत्वपूर्ण है। दलित प्रतिनिधि सामान्य सीटों से कम चुनकर आते हैं। चूंकि वे भी पूरी तरह दलित मतों से जीतकर नहीं आते हैं, इस कारण वे उन ग़ैर-दलितों की रहनुमाई करने के लिए संसद और विधान सभाओं में भेजे जाते हैं। डॉ. अम्बेडकर दूरदृष्टा थे, उन्हें यह स्थिति 1932 में ही दिखाई दे रही थी, इसलिए उन्होंने स्वतंत्र निर्वाचन की मांग के तहत परिकल्पना की थी कि दलित प्रतिनिधि का चुनाव केवल दलितों के मतों से ही होना चाहिए। ऐसा होने से उनके प्रतिनिधि अपने मतदाताओं के प्रति जवाबदेह रहेंगे। बरतानिया हुकूमत यह भी मानने वाली थी कि दलित प्रतिनिधि का न केवल दलित मतदाता चयन करेंगे, बल्कि वे सामान्य क्षेत्रों के ग़ैर दलित प्रतिनिधियों में भी अपने हितों-अहितों को ध्यान में रख कर दोहरे मताधिकार का प्रयोग कर सामान्य वर्ग के प्रतिनिधियों में भी अपने स्थान पा सकेंगे। आंशिक निर्वाचन तो छोड़िए अब दलितों का एक बड़ा हिस्सा अपने मतों का प्रयोग ही नहीं कर पाता है। मतदान करने से वंचित रहने के कई कारण हैं। प्रमुख है अशिक्षा और ग़रीबी, दूसरा है रानीतिक परिवर्तन से सामाजिक परिवर्तन के प्रति उदासीनता, फिर धनबल और जनबल जो मतदाता को डरा कर, धमका कर या ख़रीदकर कम संख्या वालों से अधिक संख्या वाले समूहों से राजनीति में पराजित हो जाता है।

भारत के कथित प्रगतिशील समाजवादी राजनीतिक दर्शन में सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में क्रांतिकारी परिवर्तन होने की बात तो करते रहे हैं परंतु यह दिलचस्प है कि वही तरक्कीपसंद लोग दलितों के किसी तरह के नेतृत्व को स्वीकार नहीं करते। वे न तो समाज में दलितों को मनुष्य के रूप में गरिमापूर्ण जीवनयापन करने देने के पक्ष में होते हैं और न वे ज्ञान-विज्ञान, शिक्षा, साहित्य, कला और मीडिया आदि किसी भी क्षेत्र में नेतृत्व करने योग्य मानते हैं, जबकि बदलाव की ज़रूरत महसूस करने के कारण बदहाली की यथास्थिति में रह रहे दलितों में नए समाज-निर्माण की स्वाभाविक संभावनाऐं मौजूद हैं। परंतु दलितों के वे पैरोकार जो संख्या शक्ति को ही सब कुछ समझतें हैं मीडिया, कला और साहित्य की भूमिका को नज़रअंदाज करते हैं। ध्यान देना चाहिए कि न केवल सवर्ण अपितु मगलों और अंग्रेजों सहित शासक कौमें संख्या की दृष्टि से बहुत विशाल नहीं रही हैं। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि स्वतंत्रता के इन वर्षों में दलितों के लिए लोकसभा, राज्यसभा और लोक सेवा संघ के आरक्षण के अलावा किसी भी स्वायत्त क्षेत्र में समुचित जगह नहीं मिली है। उक्त राजनीतिक और प्रशासनिक दोनों आरक्षित क्षेत्रों में दलित समाज से भी अपेक्षाकृत कुछ आर्थिक रूप से समर्थ लोग ही पहुंचे हैं। भूमिहीन और व्यवसायहीन दलितों के बच्चे नहीं। 1947 से आज तक राजकीय सेवाओं में जाने वाले दलित कर्मचारियों की संख्या लाखों में पहुंची है। कॉलेज और विश्वविद्यालय में शिक्षा पाने वालों की संख्या भी काफी है। यह बात अलग है कि स्वायत्तशासी संस्थाओं में उनके लिए वैसा प्रतिनिधित्व नहीं हैं, जैसा कि राजकीय आरक्षण नीति के तहत उपलब्ध हुआ है।

यही कारण है कि निजी क्षेत्रों और स्वायत्तशासी संस्थाओं को लोकतंत्र की स्वस्थ परंपराओं का वाहक तब तक नहीं माना जा सकता जब तक 25 करोड़ दलितों के प्रतिनिधित्व का बहिष्कार बंद नहीं हो जाता। इन संस्थाओं का रुझान अलोकतांत्रिक वैयक्तिक और सामंती स्वरूप की ओर अधिक है।

अब जब सरकारी नौकरियां भी सीमित कर दी गई हैं, रोज़गार के नए रास्ते खोले नहीं गए हैं, तो दलितों में भी शिक्षित बेरोजगारों की संख्या विस्फोटक असंतोष के कगार पर होना स्वाभाविक है। कुछ आत्महत्या के रास्ते पर हैं तो कुछ छोटे-मोटे अपराधों के शिकार होने को मजबूर हैं।

चुनाव आयुक्त ने बार-बार अपील करते हुए लोकसभा चुनावों में महिलाओं की अधिक भागीदारी की नेक सलाह दी। व्यापक संदर्भों में महिलाओं का प्रतिनिधित्व हर क्षेत्र में होना ही चाहिए। यह आधी दुनिया कम-से-कम 40 फ़ीसदी तो आगे आ ही जाए। दलित स्त्रियों को भी विशेष और स्वतंत्र उपायों द्वारा आगे लाया जाए। न केवल राजनीति में अपितु, सरकारी और ग़ैर-सरकारी सेवाओं में भी, वे सौ में 40 तो होनी ही चाहिए। कला, मीडिया और जब तक साहित्य में दलित स्त्रियां शरीक नहीं हैं, तब तक उनके चरित्र का सही चित्रण संभव नहीं है।

यह नहीं होगा तो 21वीं सदी में हम आज़ाद मुल्क को उतनी भीतरी मज़बूती नहीं दे पाऐंगे, जितनी मज़बूती का सपना भारत के शहीदों और राष्ट्र-निर्माताओं ने देखा था।

(साभार : समकालीन हिंदी पत्रकारिता में दलित उवाच – श्यौराज सिंह बेचैन)

(लेखक हिंदी पत्रकारिता विभाग, भीमराव अम्बेडकर महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय में प्राध्यापक हैं)

डरबन समीक्षा सम्मेलन : अपेक्षाऐं और उपलब्धियाँ

ह्यूमन राइट्स काउंसिल द्वारा डरबन समीक्षा सम्मेलन 20–24 अप्रैल 2009 को जिनेवा में आयोजित किया गया। इस सम्मेलन का मुख्य उद्देश्य 2001 डरबन कांफ्रेंस में अंगीकृत डरबन घोषणा-पत्र व प्लान ऑफ एक्शन पर सदस्य देशों द्वारा की गई प्रगति का आंकलन करना था। सम्मेलन की तैयारी ने विश्व भर में सकारात्मक व नकारात्मक उन्माद को जन्म दिया। जहां तक कुछ देशों का मानना था कि डरबन सम्मेलन की तरह इस बार भी सम्मेलन को अमरीका और इजराइल के खिलाफ़ प्रचार व प्रोपेगेंडा के लिए इस्तेमाल किया जाएगा वहीं कुछ देशों में ख़ासकर एशियाई और अफ्रीकी देशों में अपेक्षा थी नस्लवाद को ख़त्म करने में इस सम्मेलन की महती भूमिका होगी। कुछ देशों ने जहां डरबन सम्मेलन को असफल कहकर नकार दिया था, उन्होंने इस बात पर भी आशंका ज़ाहिर की कि एक असफल सम्मेलन की समीक्षा का औचित्य क्या है। यह सम्मेलन शुरू से ही विवादों में घिरा रहा और तैयारी के दरम्यान ही अमरीका, इज़राइल, ऑस्ट्रेलिया, कनाडा और इंग्लैण्ड ने सम्मेलन का बहिष्कार करने का मन बना लिया था। शुरूआती सत्र में ही ईरान के राष्ट्रपति महमूद अहमदीनिज़ाद के अमरीका और इज़राइल के ख़िलाफ़ दिए गए विवादास्पद बयान ने कुछ और सदस्य राष्ट्रों को इसका बहिष्कार करने का निर्णय लेने के लिए प्रेरित किया। अमरीका, इज़राइल, कनाडा, न्यूज़ीलैण्ड, ऑस्ट्रेलिया और यूरोपियन यूनियन के पाँच सदस्य राज्यों सहित दस सदस्य राष्ट्रों ने इस सम्मेलन का बहिष्कार किया। ऐसा माना जा सकता है कि किसी अन्य विवाद से बचने के लिए सम्मेलन के दूसरे ही दिन निर्गामी दस्तावेज को स्वीकृत कर लिया गया। इस दस्तावेज़ में विवाद से बचने की इच्छा ज़ाहिर होती है। दस्तावेज़ ने मूल रूप से इस बात को स्वीकार किया कि विश्व भर में आज भी नस्लवाद कई रूपों में मौजूद है और वैश्विक समुदाय से इसे पूर्णतः समाप्त करने का आह्वान किया।

इस दस्तावेज़ में सदस्य राष्ट्रों ने नस्लवाद और रंगभेद के प्रचलित प्रकारों के ख़िलाफ़ काम करने का निर्णय लिया और प्रवासी विस्थापित और शरणार्थियों के ख़िलाफ़ रंगभेद व नस्लभेद को समाप्त करने का निर्णय लिया। इसके अलावा सदस्य राष्ट्रों ने धर्म, सम्प्रदाय व भाषायी अल्पसंख्यकों और अफ्रीकी व एशियाई मूल के समुदायों व सदस्यों के ख़िलाफ़ रंगभेद मिटाने के लिए अधिकाधिक सहभागिता और अवसर उपलब्ध कराने के लिए अपनी प्रतिबद्धता ज़ाहिर की। रोज़गार, सामाजिक सुविधाऐं, स्वास्थ्य सुविधाऐं व सहभागिता के क्षेत्रों में किसी भी तरह के भेदभाव के ख़िलाफ़ भी सदस्य राष्ट्रों ने अपनी प्रतिबद्धता व्यक्त की।

दस्तावेज़, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की महत्ता को पुनर्स्थापित करते हुए घृणा को उत्तेजित करने के ख़िलाफ़ अंतर्राष्ट्रीय कानून के प्रावधान को सशक्त करने की बात करता है। पिछले समय में किये गए अन्याय और अत्याचार को स्वीकारते हुए भविष्य में उनकी पुनरावृत्ति को रोकने की प्रबल इच्छा ज़ाहिर करता है।

श्रीमति पिल्लै (उच्चायुक्त) जिन्हें सम्मेलन का मुख्य सचिव नियुक्त किया गया था, ने आशा ज़ाहिर की कि इस दस्तावेज़ से विश्व भर में रंगभेद और नस्लभेद के ख़िलाफ़ हो रहे संघर्ष को बल मिलेगा। उनका यह भी मानना था कि कई राष्ट्रों द्वारा बहिष्कार के बावजूद इस दस्तावेज़ का सम्मान व परिपालन उन राष्ट्रों को भी करना चाहिए, क्योंकि वह इस दस्तावेज़ की ड्राफ्टिंग में शामिल रहे हैं।

नागरिक समाज व स्वयं सेवी संस्थाओं के दृष्टिकोण से इस सम्मेलन में उनकी सहभागिता काफी संकुचित रही। विश्व भर से तक़रीबन २००० संस्थाओं ने इस सम्मेलन में भाग लिया लेकिन निर्गामी दस्तावेज़ के दूसरे ही दिन स्वीकृत कर लिये जाने से उनकी भूमिका इस दस्तावेज़ को प्रभावित करने के संदर्भ में न के बराबर रही। श्रीमति पिल्लै ने बचाव की मुद्रा में यह कहा कि तैयारी की प्रक्रिया में भी कई स्वयं सेवी संस्थाओं ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है और इस दस्तावेज़ को काफी हद तक प्रभावित भी किया है। राष्ट्र संघ की प्रक्रिया से परिचित स्वयं सेवी संस्थाऐं इस बात से भलीभांति परिचित होती हैं कि तैयारी की प्रक्रिया में स्वयं सेवी संस्थाओं की कितनी भूमिका और उपस्थिति होती है। स्वयं सेवी संस्थाओं को बोलने का मौका भी सामान्य चर्चा के दौरान आख़िरी दिन और उससे थोड़ा पहले दिया गया, जिसका परिणाम यह रहा कि स्वयं सेवी संस्थाऐं एक-दूसरे से ही अपनी बात कह रही थीं और सरकारी प्रतिनिधियों की उपस्थिति नगण्य थी।

भारत में नागरिक समाज व स्वयं सेवी संस्थाओं की दृष्टि से यह सम्मेलन बहुत अशातीत ही रहा। जहां एक ओर सरकारी प्रतिनिधि ने भारत में भेदभाव को समाप्त करने के प्रयासों का पुराना राग अलापा वहीं निर्गामी दस्तावेज़ में व्यवसाय व उत्पत्ति के आधार पर किये गए भेदभाव को रंगभेद या नस्लभेद की परिभाषा में समाविष्ट नहीं किया गया, जो कि भारत में दलित समाज का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्थाओं की प्रमुख मांग थी।

> अस्पृश्यता ने अछूतों, हिन्दुओं और अंततः देश का पतन किया है। यदि दमित जातियां अपना आत्मसम्मान और स्वतंत्रता प्राप्त कर लेती हैं तो वे न केवल अपनी प्रगति और समृद्धि के लिए कार्यरत होंगी बल्कि उनका वर्गचातुर्य और साहस देश को समृद्ध और मज़बूत करने में भी सहयोगी होगा।
>
> – डॉ. बी.आर. अम्बेडकर

मंदी और भारत की दोहरी पहचान

डॉ. जया मेहता

आज़ाद हिन्दुस्तान के 60 वर्ष से भी ज़्यादा के आर्थिक विकास से एक चीज जो हमने हासिल की है वह है - देश की दोहरी पहचान। जहां तकनीकि और आर्थिक स्तर पर चंद हिस्सों में इतनी तरक्की हुई कि हम विश्व पटल पर किसी से भी मुकाबला कर सकते हैं, वहीं दूसरी ओर हमारी 80 फीसदी जनता 20 रुपये से कम में प्रतिदिन निर्वाह करती है। और वह हालिया विकास से पूरी तरह अछूती रही है। सितंबर 2008 से जिस वैश्विक वित्तीय संकट की बात चारों तरफ फैली है, हमारे देश की 80 फीसदी से ज्यादा जनता का न तो इसमें सहभाग है, न ही उनका इस पर कोई नियंत्रण है और न ही कोई जानकारी। फिर भी विडंबना यह है कि विश्व में आए इस वित्तीय संकट और उससे ज़ारी आर्थिक मंदी के दुष्प्रभाव इस पर पुरज़ोर पड़ेंगे।

वैश्विक वित्तीय संकट और आर्थिक मंदी के संदर्भ में भारत सरकार ने जो मोटे कदम उठाए हैं वे इस प्रकार हैं - लेहमन ब्रदर्स के दीवालिया होने से मचे हडकंप के बाद तत्कालीन वित्त मंत्री पी. चिदंबरम ने विश्वास दिलाया कि भारत की अर्थव्यवस्था पर इस संकट का कोई असर नहीं पड़ेगा। अमेरिकी बैंकों को दीवालिया करने वाली टॉक्सिक सिक्योरिटीज से हमारी बैंकिंग व्यवस्था पूरी तरह सुरक्षित है। बहरहाल, विदेशी निवेशकों ने तेजी से अपना फंड भारत से निकाला। 2007–08 में फॉरेन इंस्टीट्यूशनल इन्वेस्टमेंट के तहत 20.3 बिलियन डॉलर भारत की अर्थव्यवस्था में आए, अप्रैल से अक्टूबर 2008 के दौरान इसमें से 11.1 बिलियन डॉलर निवेशकों ने बाहर निकाले। इससे सेंसेक्स, जो 8 जनवरी 2008 को 20,873 की ऊंचाई पर था, अक्टूबर 2008 में गिरकर 10 हजार से भी नीचे पहुंच गया। रुपये के विनियम मूल्य को गिरने से बचाने के लिए आरबीआई ने 25.8 बिलियन डॉलर की बाजार में बिक्री की फिर भी यह फरवरी 2008 के 39.26 रुपये प्रति डॉलर से गिरकर अक्टूबर 2008 में 48.86 रुपये हो गया। भारतीय ऋण व्यवस्था की तरलता कायम रखने के लिए आरबीआई ने रेपो रेट और सीआरआर की दरें कम कीं और वित्तीय व्यवसथा में 390 हज़ार करोड़ रूपये डाले। जहां तक राजस्व नीति का सवाल था केंद्र सरकार ने दिसंबर 2008 और जनवरी 2009 में दो फिस्कल इस्टेम्यूलस पैकेज घोषित किए, जो जीडीपी के 3 फीसदी के बराबर था। चुनाव घोषित होने के बाद सरकार पूर्ण बजट पेश करने की अधिकारी नहीं रही और अंतरिम बजट में ठोस नीतिगत कदमों की गुंजाइश नहीं थी। फिर भी 2007–08 में जीडीपी के 3.1 फीसदी रहे फिस्कल डेफिसिट को बढ़ाकर 7.8 फीसदी किया गया। इसके अलावा जी-20 की दो सभाओं में भारत ने भाग लिया। खेद की बात है कि इनमें भारत ने तीसरी दुनिया के देशों का प्रतिनिधित्व करने के बजाय अपनी उभरती नई आर्थिक पहचान प्रतिष्ठित करने की कोशिश की।

वैश्विक स्तर पर फाइनांस और हाउसिंग लोन का बुलबुला फूटने के बाद किये जा रहे प्रयत्नों का मुख्य उद्देश्य विकसित देशों की सरकार द्वारा वित्त व्यवस्था में तरलता डालकर इसे थोड़े बहुत बदलाव के साथ चलाने का है। अमेरिका और यूरोप की अर्थव्यवस्था अपने प्रयत्नों में अब तक सफल नहीं हुई है और वित्तीय संकट का प्रभाव उत्पान प्रक्रियाओं और रोजगार के आंकड़ों पर साफ-साफ दिखाई दे रहा है। ये सब अर्थव्यवस्थाऐं मंदी में घिरी हुई हैं। 2008 की आख़िरी तिमाही ऋणात्मक रही। जापान में तो हालात और भी भयावह हैं, वहां इस दौरान अर्थव्यवस्था की विकासदर 12 फीसदी ऋणात्मक है। हिंदुस्तान और चीन के संदर्भ में कहा जा रहा है कि यहां मंदी की बात न करें, यह मंदी नहीं केवल स्लो डाउन है। भारत में विकास की दर 9 फीसदी से 2 या 3 फीसदी कम हो जाएगी।

अख़बार की सुर्ख़ियों में इस स्लो डाउन के शिकार लोगों की ख़बरें लगातार आ रही हैं। जैसे - मैनेजमेंट ग्रेजुएट्स को जॉब न मिलना, जेट एयरवेज की छंटनी, आईटी और बीपीओ सेक्टर में निराशा। जो ख़बरें हाशिए पर हैं उनमें कानपुर के चमड़ा उद्योग में काम कर रही छोटी-छोटी निर्यात इकाइयों और उनमें काम कर रहे न्यूनतम वेतन तक न पाने वाले लोग, सूरत के जेम और ज्वैलरी उद्योग के ठप होने से बेरोज़गार हुए लोग, केरल का वह श्रम जो गल्फ़ गया था और अब बड़ी संख्या में वापस आ गया है और देश के विभिन्न हिस्सों में रेडिमेड उद्योग से जुड़ी शोषित महिलाओं के रोज़गार पर भारी हमला आदि-आदि।

इसके अलावा हिन्दुस्तान के कृषि क्षेत्र में कार्यरत 60 फीसदी श्रमिक वर्ग भी वैश्विक मंदी से बचा नहीं रहेगा। उदारीकरण के तहत कृषि वस्तुओं पर आयात-निर्यात के प्रतिबंध हटा दिए गए और विश्व बाज़ार में कृषि वस्तुओं के मूल्य में तेजी आने वाले उतार-चढ़ाव से भारतीय किसान सीधे प्रभावित हुए। अब यदि आर्थिक मंदी के चलते या स्वाइन फ्लू की वजह से ही सोयाबीन (जिससे पशुओं का आहार बनता है) की कीमतें तेजी से नीचे गिरती हैं, तो मालवा का एक एकड़ की ज़मीन वाला किसान रातोंरात दीवालिया हो जाएगा। इसी तरह मंदी का असर कपास, गेहूँ, चावल, गन्ना आदि के मूल्यों पर भी पड़ेगा। नवसाम्राज्यवाद को असीमित बढ़ावा दिया गया। मंदी के दौर में अमीर वर्ग के कुल उपभोग में थोड़ी सी कमी अने से बहुत सारी ग़रीब जनता की आजीविका क्षण भर में तहस-नहस हो जाती है।

भारतीय अर्थव्यवस्था की दोहरी पहचान के चलते जहां हमारी राजनीति और आर्थिक नीति शीर्ष पर बैठे 10 से 15 फीसदी लोगों को वित्तीय संकट और आर्थिक मंदी से बचाने में व्यस्त है और एक तरह से संतुष्ट भी है कि संकट इतना बड़ा नहीं है, जिससे निपट न सकें। वहीं दूसरी ओर इस 80 फीसदी जनता पर पड़ने वाले प्रभाव से सरकार निरपेक्ष है।

इस तबके पर पड़ने वाले असर का सही और विस्तृत आंकलन भी अब तक नहीं हुआ है। हर कोई यह जानना चाहता है कि यह अर्थिक संकट नियंत्रण में आएगा तो कब तक ? इस बारे में यकीन के साथ कोई दावा करना किसी भी विशेषज्ञ के लिए मुमकिन नहीं है। आईएमएफ ने नवंबर 2008 में पूरी दुनिया के देशों की विकासदर के जो पूर्वानुमान लगाए थे, उसके आंकड़े चार महीने के भीतर ही संशोधित करते हुए घटा दिए हैं। हो सकता है मौजूदा प्रयत्नों से यह संकट काबू में आ जाए। नतीजतन यह पूंजीवादी ढांचा एक नई शक्ल के साथ कुछ दिनों के लिए निर्बाध रूप से चल पड़ेगा। लेकिन ऐसी स्थिति में भी जो शक्ल पूंजीवाद अख़्तियार करेगा, उसमें इन 80 फीसदी लोगों के लिए मौजूद विकल्प इनके हालात बद से बदतर ही करेंगे।

यह भी संभव है कि इस संकट पर काबू पाया ही न जा सके। दुनिया 1930 से भी ज़्यादा गहरी और कठिन मंदी में घिर जाए। जिससे उबरने के लिए पूंजीवाद ने फासीवाद और द्वितीय विश्वयुद्ध का सहारा लिया था। तब क्या ये माना जाए कि मौजूदा आर्थिक संकट को ख़त्म करने के लिए पूंजीवाद दुनिया को फिर एक महायुद्ध की ओर धकेलेगा। उसकी अनुगूंजें हम पिछले दो दशकों में इराक, अफगानिस्तान, फिलिस्तीन में सुनते आ रहे हैं। यानी जो लोग वर्तमान में भूख से मर रहे हैं, वे बारूद और बमों से मारे जाऐंगे।

सवाल यह है कि क्या इन अधिसंख्य लोगों के पास वैश्विक आर्थिक संकट के हल होने या न होने - दोनों ही स्थितियों में सिर्फ एक ही विकल्प मौजूद है कि वे बेजान चीजों की तरह बेमौत मारे जाऐं? या फिर वे इकट्ठे होकर इस व्यवस्था को यह चुनौती दे सकते हैं कि हमारी ज़िंदगी का फ़ैसला, चाहे वह हार में हो या जीत में, हमारी भागीदारी के बगैर नहीं होगा। इतिहास गवाह है कि पूंजीवाद जब भी संकट में आता है तो एक वैकल्पिक न्यायपूर्ण व्यवस्था की संरचना साथ लेकर आता है।

(साभार : पत्रिका-इन्दौर, 04 मई 2009)

उदारीकरण की हिमायती अदालतें

अभय टकसाल

आज़ादी के बाद देश में औद्योगीकरण की दिशा में नई पहल हुई। नये उद्योगों के साथ ही श्रमिकों की संख्या भी बढ़ने लगी। लोगों को लगा कि उद्योग लगने से रोज़गार की नई संभावनायें विकसित हो रही हैं। विकास का नया सपना भी इसकी वजह थी। देश में औद्योगिक क्रांति के नारे की गूंज में श्रमिकों की आवाज़ गुम होने लगी। श्रमिकों के लिये बने कानून उनके अधिकारों के लिये काफी नहीं थे। इसके बाद भी जब कभी श्रमिक असंतोष पैदा होता था तो सरकार और न्यायालय के फैसलों का रूझान हमेशा श्रमिकों के पक्ष में होता था। नब्बे के दशक में जब से भारत ने उदारीकरण और खुली अर्थव्यवस्था को अपनाया न्यायालय का रूख की बदल गया। सर्वोच्च न्यायालय के इस बीच के फैसलों पर नज़र डालें तो साफ हो जाता है कि उसने न केवल कर्मचारियों के ख़िलाफ फैसले दिये बल्कि संविधान में प्रदत्त श्रमिकों के मूल अधिकारों की भी भारी उपेक्षा की है।

न्यायालय ने नई आर्थिक नीति की सराहना भी की है। दो मामलों में अलग-अलग फैसलों से इस बात को समझा जा सकता है। बाल्को बनाम भारत संघ मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने नई आर्थिक नीति का समर्थन करते हुए श्रमिकों के अधिकारों में भारी कटौती की है। नयायालय ने यह भी सलाह दी कि श्रमिकों को सरकार की आर्थिक नीति पर हसतक्षेप नहीं करना चाहिए। बाल्को मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने अपने फैसले में कहा, ‘‘यूनियन की राय है कि बाल्को के संभावित खरीदार को विनिवेश के बाद कंपनी के आधुनिकीकरण की अपनी योजना को स्पष्ट करना चाहिए। लेकिन यह ठीक नहीं है क्योंकि संभावित खरीदार से नीलामी के समय अपने बिजनेस प्लान को रखने की बात कही थी। इसी शर्त पर उसे विनिवेश करने को कहा गया। ऐसे व्यापार की परिस्थितियों में वह किसी को अपने बाजार की जानकारी देने के लिए बाध्य नहीं है।’’

इस फैसले से यह स्पष्ट हो जाता है कि सर्वोच्च न्यायालय बाज़ार की प्रवृत्तियों और भूमंडलीकरण के दवाब में अपना नज़रिया बदल रहा है। बाल्को मामले में न्यायालय ने विनिवेशक का पक्ष लिया। जब यह संस्थान सरकार के हाथें में था तो उन्हें सरकारी सुविधाऐं और संरक्षण प्राप्त था। विनिवेश के बाद इन कर्मचारियों के बारे में न्यायालय ने बिल्कुल नहीं सोचा। बाल्को के निवेश से प्रभावित कर्मचारियों को किसी भी प्रकार की सामाजिक सुरक्षा का प्रावधान नहीं किया। सर्वोच्च न्यायालय का मानना है कि इस तरह के मामलों में श्रमिकों को किसी प्रकार की राहत नहीं दी जा सकती है। उदारीकरण की नीति से प्रभावित न्यायालय से श्रमिक अधिकारों के संरक्षण की कोई उम्मीद नहीं की जा सकती है। सर्वोच्च न्यायालय के फैसले के पैरा-58 और 59 निजीकरण और विनिवेश के पक्ष में हैं। बाल्को मामले में न्यायालय ने कहा कि श्रमिक अपने अधिकारों के संरक्षण के लिए श्रम न्यायालयों में जा सकते हैं। इसके उलट सर्वोच्च न्यायालय ने निचली अदालतों को यह निर्देश दिये कि वह श्रमिकों के मुआवज़ा और अधिकार संबंधी अपीलों पर ज्यादा नरमी न बरतें। श्रमिकों की पुनर्नियुक्ति पर मुआवजे और पुरानी मजदूरी से राहत दिलाने की बजाय एकमुश्त मुआवजा देने के निर्देश दिये। इससे श्रमिकों के न्याय पाने के सारे दरवाजे बंद हो गए।

इससे साफ समझा जा सकता है कि देश के संगठित मजदूरों की कैसी हालत है। न्यायालय ने यह घोषणा भी कर दी कि श्रमिकों को सरकार की नीतियों को चुनौती देने का अधिकार नहीं है। न्यायालय के इस तरह के रुख से यह लगता है कि श्रमिक देश के नागरिक ही नहीं हैं। न्यायालय ने श्रमिकों के प्रति दोहरा दृष्टिकोण अपनाया है। जहां एक तरफ वह श्रमिकों के सरकारी नीतियों पर हस्तक्षेप को नकारती रही वहीं सरकार की नई आर्थिक नीतियों का समर्थन भी करती रही।

सर्वोच्च न्यायालय ने बार-बार इस बात को कहा कि वह राज्य की नीतियों में किसी

प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करती लेकिन उसके फैसले राज्य के समर्थन में हो रहे हैं। बाल्को मामले में इसे देखा जा सकता है। इस मामले में सुनाये गए फैसले के पैरा-55 और 59 में कई जगह इस बात का उल्लेख किया गया है कि न्यायालय निजीकरण के खिलाफ नहीं है। इतना ही नहीं कई जगह न्यायालय का श्रमिकों के प्रति गुस्सा भी परिलक्षित होता है। यह बात भी समझ से बाहर है कि जब सार्वजनिक नीति न्यायालय के कार्यक्षेत्र से बाहर है तो वह सरकार के निजीकरण की नीति का हमेशा समर्थन क्यों करता है। सर्वोच्च न्यायालय का स्वतंत्र रूप से काम न करना एक तरह से सरकार के पक्ष में खड़ा होना है। संविधान के अनुच्छेद-14 और 16 में श्रमिक अधिकारों के संरक्षण को स्वीकार किया गया है लेकिन बाल्को मामले में उच्चतम न्यायालय ने अपने निर्णय के पैरा-48 में राहत देने को अस्वीकार कर दिया।

उच्चतम न्यायालय के श्रमिक विरोधी रुख को और मामलों में भी देखा जा सकता है। एल.के. वर्मा बनाम एचएमटी लिमिटेड एवं अन्य (2006 (1) सीएलआर 854) मामले में उच्चतम न्यायालय ने नियोक्ता और कर्मचारी के संबंधों पर अलग दृष्टिकोण अपनाया । संविधान लागू होने के बाद ही सेवा संबंधी मामलों को निपटाने के लिये कर्मचारियों के कल्याण को प्राथमिकता दी जाती रही है । संविधान में निहित श्रमिक अधिकारों को लागू करने के दिशा-निर्देश भी उच्चतम न्यायालय ने दिये थे। न्यायालय भी इस ओर अपना सकारात्मक दृष्टिकोण रखते थे। संविधान के अनुच्छेद-21 में रोज़गार को गारंटी के रूप में समाहित किया गया है। यह प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्तों से जुड़ा है। न्यायालय ने विभिन्न मामलों में इसका ध्यान भी रखा।

प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्तों और संविधान में प्रदत्त रोज़गार के अधिकार को कायम रखने के लिये समय-समय पर संसद और न्यायपालिका ने श्रम कानूनों को संविधान की भावना के अनुरूप बनाने का काम किया। इसमें अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संस्थान के निर्देशों को भी ध्यान में रखा गया। दुर्भाग्य से वैश्वीकरण की आंधी में यह सब प्रभावहीन हो गए। अदालतें भी वैश्वीकरण की भाषा बोलने लगीं। बाल्को फैसले से यह बात स्पष्ट हो गई है। सर्वोच्च न्यायालय ने अपने फैसले के पैरा-23 में कहा, "देश में आर्थिक नीति के मुद्दे पर कर्मचारियों को अनुशासन तोड़ने की इजाज़त नहीं दी जा सकती।" यह न केवल न्यायपालिका की बदलती प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है बल्कि यह संविधान में निहित सिद्धान्तों को निष्प्रभावी करने की ओर भी कदम बढ़ाना है। अदालत ने सरकार की आर्थिक नीति में आ रहे बदलाव को स्वीकार करते हुए देश की संसद द्वारा अपनायी भावना को नज़रअंदाज किया है। इस तरह की प्रवृत्ति न केवल उच्चतम न्यायालय में आई है बल्कि इसका अनुसरण प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से निचली अदालतें और कानूनी मंच भी कर रहे हैं।

(साभार : कॉम्बैट लॉ, फरवरी-मार्च 2009)

समाचार जगत से

मानवाधिकार के लिए चुनौती आतंकी घटनाऐं

नई दिल्ली। भारत के मुख्य न्यायाधीश के.जी. बालाकृष्णन का कहना है कि आतंकी हमले और धर्म, जाति व लिंग के आधार पर होने वाली हिंसा मानवाधिकार के रास्ते में बड़ी चुनौती हैं। उन्होंने कहा कि इन चुनौतियों से निपटने के लिए संविधान में प्रावधान मौजूद हैं। न्यायमूर्ति बालाकृष्णन राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग द्वारा आयोजित 'दक्षिण एशियाई मानवा-धिकार कांफ्रेंस' को संबोधित कर रहे थे। उन्होंने कहा कि मानवाधिकार के विकास में इस तरह की चुनौतियां दक्षिण एशियाई मुल्कों में ज़्यादा हैं। मानवाधिकार संगठनों में काम कर रहे लोगों को अपने दायित्व का निर्वहन पूरी ईमानदारी व निष्ठा से करना होगा। आम लोगों की ऐसे संगठनों से बड़ी अपेक्षाऐं होती हैं। लोगों में अपने संवैधानिक अधिकारों के प्रति जागरूकता भी बढ़ रही है।

बालाकृष्णन का हालांकि मानना है कि राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के पास काम करने की स्वतंत्रता और शक्तियों का अभाव आलोचना का विषय रहा है। उन्होंने विशेष संस्था की ज़रूरत भी बताई जो घरेलू कानून में मानवाधिकार के प्रावधानों का समावेश करने में मदद कर सके। एनएचआरसी के अध्यक्ष जस्टिस एस. राजेन्द्र बाबू ने इस मौके पर कहा कि राष्ट्रीय मानवा-धिकार आयोग की अब राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर महत्वपूर्ण भूमिका स्थापित होती जा रही है। उन्होंने मानवाधिकार संगठनों को सारे मामले व शिकायतें शांतिपूर्ण तरीके से और कानून के प्रावधानों के मुताबिक ही निबटाने की सलाह दी। दक्षिण एशियाई मुल्कों के तमाम मानवाधि ाकार संगठनों और संस्थाओं के साथ हर दो वर्ष में एक बार संयुक्त कांफ्रेंस आयोजित करने की अपील भी उन्होंने की। उन्होंने कहा कि इस तरह मानवाधिकार के तरीके और अपने अनुभव आपस में बांटकर अधिक से अधिक सीखा जा सकता है। (साभार : दैनिक जागरण, 17 अप्रैल 2009)

महिलाओं के विरूद्ध प्रतिदिन एक अपराध

मोहाली। महिला अधिकारों के लिए कार्यरत संगठनों और स्वयं महिलाओं के लिए यह एक महत्वपूर्ण सूचना है कि मोहाली में महिलाओं के विरूद्ध किये जाने वाले दहेज, शारीरिक व मानसिक उत्पीड़न या घरेलू हिंसा सहित अन्य अपराधों की प्रतिदिन एक शिकायत दर्ज होती है। यदि आंकड़ों के संदर्भ देखा जाए तो मोहाली पुलिस की महिला शाखा को जहां 2007 में 232 शिकायतें प्राप्त हुई वहीं 2008 में यह संख्या बढ़कर 410 हो गई और इस वर्ष में अब तक 103 शिकायतें प्राप्त की जा चुकी है। यद्यपि प्रकरण दर्ज होने के मामले में यह संख्या 12–15 प्रतिवर्ष ही है क्योंकि अधिकांश मामलों में अक्सर आपसी समझौते के कारण मुकदमेबाजी से बचा जाता है। मोहाली पुलिस महिला शाखा की इंचार्ज इंस्पेक्टर दीपिन्दर कौर का कहना है कि पिछले कुछ सालों में महिलाओं के खिलाफ दहेज की मांग, घरेलू

हिंसा और अन्य तरह के उत्पीड़न की शिकायतों की संख्या में वृद्धि हुई है। परिवार के सदस्यों या बाहरी व्यक्ति द्वारा शारीरिक व मानसिक शोषण और हिंसा के बारे में बात करते हुए उन्होंने कहा कि यद्यपि प्राप्त शिकायतों की संख्या बहुत अधिक है परंतु बहुत ही कम लोग प्रकरण दर्ज कराते हैं। विवाहित दंपत्ति के संदर्भ में शिकायत के आधार पर अधिकांशतः दोनों पक्ष समझौते की स्थिति तक आ जाते हैं या फिर तलाक लेने का निर्णय कर लेते हैं।

2007 में सिर्फ 8 प्रकरण ही दर्ज हुए, 2008 में 10 और इस वर्ष अभी तक 5 प्रकरण ही दर्ज हुए है। अधिकांश प्रकरण के आधार में दहेज के लिए उत्पीड़न है। पुलिसकर्मियों के अनुसार क्षेत्र में महिलाओं के खिलाफ हिंसा एक आम बात है। पुलिस अधिकारियों के अनुसार 'उत्पीड़न, हिंसा की घटनाऐं अक्सर पैसों की मांग, अमातृत्व और शराबखोरी के कारण होती है।'

(साभार : टाइम्स ऑफ इण्डिया, 30 अप्रैल 2009)

मानवाधिकार उल्लंघन में यूपी और दिल्ली अव्वल

उत्तर प्रदेश और दिल्ली का मानव-अधिकार रिकॉर्ड देश में सबसे ख़राब पाया गया है। राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग (एनएचआरसी) के आंकड़ों के मुताबिक पिछले साल देश के विभिन्न राज्यों में मानवाधिकार हनन की सबसे अधिक शिकायतें उत्तर प्रदेश से सामने आई हैं। इसके बाद देश की राजधानी दिल्ली का नंबर है।

एन.एच.आर.सी. के ताज़ा आंकड़े गवाह हैं कि पिछले साल आयोग को देश भर से मानवाधिकार हनन की कुल 94,559 शिकायतें प्राप्त हुईं। इनमें 55,216 सिर्फ उत्तर प्रदेश से थीं जो कि कुल शिकायतों का 58.39 प्रतिशत हैं। दूसरे स्थान पर मौजूद दिल्ली से दिसंबर 2007 तक कुल 5,616 शिकायतें दर्ज की गईं। तीसरे नंबर पर गुजरात पाया गया है जहां इस अवधि में मानवाधिकार उल्लंघर की 3,813 शिकायतें प्राप्त हुई हैं जबकि चौथे स्थान पर मौजूद बिहार से 3,672 मामले सामने आए।

दिल्ली का पड़ोसी हरियाणा भी मानवाधिकार रिकॉर्ड में बिहार से थोड़ा ही पीछे है। हरियाणा में मानवाधिकार हनन के मामलों की संख्या 3,493 है। इसी क्रम में महाराष्ट्र में 3,493, राजस्थान में 2,640, मध्यप्रदेश में 2,246 और पंजाब में 1,082 शिकायतें दर्ज की गईं। केन्द्रशासित लक्ष्यद्वीप इकलौता ऐसा प्रदेश है जहां से एनएचआरसी को मानवाधिकार हनन की एक भी शिकायत प्राप्त नहीं हुई है, जबकि दादर एवं नगर हवेली से मात्र सात शिकायतें सामने आईं। दक्षिण भारत के राज्यों में तमिलनाडु सबसे ऊपर है जहां 3,165 शिकायतें मिली हैं।

(साभार : हिन्दुस्तान, 16 मार्च 2009)

वर्षा के लिए बैल के साथ लड़की को जोता

पूर्वी असम के एक सुदूर गांव में एक पुजारी ने 17 वर्षीय लड़की को सूखे के लिए जिम्मेदार ठहराते हुए दंडस्वरूप बैल के साथ हल में जोत दिया। असम के आदिवासी क्षेत्रों में जादू-टोने और अंधविश्वासों का बोलबाला है। कई बार प्राकृतिक आपदाओं के लिए गांव के ही किसी सदस्य को जिम्मेदार ठहरा कर चुड़ैल मान लिया जाता है और उसे भीषण यातनाऐं दी जाती हैं। इन अंधविश्वासों की शिकार अक्सर महिलाऐं बनती हैं लेकिन कभी-कभी पुरूष भी इसकी चपेट में आ जाते हैं।

हालांकि मौजूदा प्रकरण में पीड़िता रूपाली भुइयां को चुड़ैल नहीं बताया गया। तिनसुकिया जिले के ऊपरी तलप लोहालीबस्ती गांव के पुजारी अर्जुन राजपूत की दलील थी कि रूपाली ने पिछले 14 मार्च को हल को कंधे पर उठाकर वर्षा के देवता को नाराज कर दिया। पुजारी के अनुसार लड़की का यह कृत्य पाप की श्रेणी में आता है, जिसका प्रायश्चित ज़रूरी है।

पुजारी और उसके सहयोगियों द्वारा रूपाली को बैल के साथ जुए में बांधा और धान के खेत की जुताई करवाई। इसके बाद रूपाली के पिता पवन भुइयां को पूरे पांच गांवों के सभी निवासियों को भोज देना पड़ा। स्थानीय पुलिस स्टेशन के इंचार्ज राजन डोले ने बताया कि 'हमने पीड़िता, उसके घरवालों और गांव के अन्य लोगों के बयान ले लिये हैं। पुजारी ने माना कि लड़की को बैल के साथ जोता गया लेकिन उसके मुताबिक यह सिर्फ प्रतीकात्मक कार्यवाही थी, ठीक वैसी ही जैसी वर्षा के देवता को खुश करने के लिए मेंढकों की शादी।' डोले ने बताया कि रूपाली के परिवार वालों ने भी उसे प्रताड़ित किये जाने से इंकार करते हुए रिपोर्ट दर्ज कराने से मना कर दिया।

दूसरी ओर असम राज्य महिला आयोग ने इस घटना को दुर्भाग्यपूर्ण ठहराया है। आयोग की अध्यक्ष मृदुला सहारिया ने कहा कि 'हम महिलाओं के कानूनी अधिकारों पर ध्यान दे रहे हैं, जल्दी ही हम घटनास्थल पर जाकर वास्तविकता का जायजा लेंगे।' सहारिया के अनुसार ऐसे मामलों में पुलिस या स्थानीय प्रशासन ज्यादा कुछ नहीं कर सकता।

(साभार : हिन्दुस्तान, 28 मार्च 2009)

कुपोषण का देश

संयुक्त राष्ट्र संघ के विश्व खाद्य कार्यक्रम के आंकड़ों के अनुसार विश्व के 27 प्रतिशत से ज्यादा कुपोषित लोग भारत में बसते हैं। हमारे देश के 43 प्रतिशत बच्चे कुपोषित हैं और इस मामले में हम सूडान, सोमालिया, रवांडा और इथियोपिया से पीछे हैं। इतने बच्चों के कुपोषण का अर्थ उन्हें भरपेट खाना न मिलना है। इसकी शुरूआत गर्भ में ही हो जाती है। भारत में 90 प्रतिशत गर्भवती स्त्रियां खून की कमी की शिकार हैं, ऐसा आंकड़े बताते हैं। विश्व खाद्य कार्यक्रम की भारत के बारे में रपट यह कहती है कि दुनिया में भूख से पीड़ित लगभग आधे लोग भारत में बसते हैं और भारत की एक-तिहाई आबादी की समस्या कुपोषण की वजह से कम वजन है। स्वास्थ्य के तमाम मानकों पर अगर परखा जाए तो भारत की गरीब आबादी के बारे में काफी चौंकाने वाले नतीजे निकलते हैं। लंबे वक्त से खाद्य सुरक्षा सरकारों की प्राथमिकता में नहीं है। सार्वजनिक वितरण व्यवस्था बेहतर होने की बजाय बदतर हुई है, ग्रामीण रोज़गार गारंटी योजना जैसे कार्यक्रमों में भी राजनेताओं और नौकरशाही की सचमुच दिलचस्पी नहीं है। वह देश आखिरकार मजबूत कैसे होगा, जिसकी एक-तिहाई आबादी अस्वस्थ और कमजोर है और अपनी आबादी को भरपेट खाना देने के मामले में जिसका नंबर दुनिया में 94वां है। (साभार : हिन्दुस्तान, 28 फरवरी 2009)

पैरवी गतिविधियाँ

अनुसूचित जाति/जनजाति (अत्याचार निरोधक) अधिनियम, 1989 पर राष्ट्रीय परामर्श

20–21 मार्च 2009 को नई दिल्ली में पैरवी द्वारा सेंटर फॉर दलित राइट्स, सोसाइटी फॉर ह्यूमन डिग्निटी एण्ड राइट्स (राजस्थान) व दलित दासता विरोधी अभियान (पंजाब) के साथ संयुक्त रूप से अनुसूचित जाति/जनजाति (अत्याचार निरोधक) अधिनियम, 1989 पर एक राष्ट्रीय परामर्श का आयोजन किया गया, जिसमें भारत के विभिन्न राज्यों में कार्यरत दलित संगठनों के प्रतिनिधि, विधिवेत्ता, जनप्रतिनिधि, सेवानिवृत अधिकारी व समाचार जगत के प्रबुद्ध प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इस दो दिवसीय परामर्श में विभिन्न राज्यों से आए प्रतिनिधियों ने अधिनियम की राज्यों में वर्तमान स्थिति व अपने कार्यक्षेत्र में दलित समस्याओं पर प्रकाश डाला साथ ही भारत के विभिन्न हिस्सों से आए दलित पीड़ितों ने भी इस परामर्श में अपने अनुभव साझा किये। इस परामर्श में अधिनियम के लेखक श्री पी.एस. कृष्णन, श्री के.बी. सक्सेना (पूर्व सदस्य, योजना आयोग), सुश्री सत्या बेहेन (सदस्य, राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग), सुश्री यासमीन अबरार (सदस्य, राष्ट्रीय महिला आयोग), श्री सिरिंग सेम्फ़ल (सदस्य, राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग), श्री स्वामी अग्निवेश (पूर्व सांसद व बंधुआ मज़दूर मुक्ति संगठन अध्यक्ष), श्री संजय पासवान (पूर्व सांसद), श्री संजय पारीख (वरिष्ठ अधिवक्ता, उच्चतम न्यायालय) व श्री भरत डोगरा (वरिष्ठ पत्रकार) ने अधिनियम व इसके क्रियान्वयन पर अपने विचार व्यक्त करते हुए इसे सशक्त करने हेतु आवश्यक कदम उठाने पर ज़ोर दिया। इस दो दिवसीय गहन परामर्श में अधिनियम में संशोधन व बेहतर क्रियान्वयन सुनिश्चित करने के लिए एक मांगपत्र भी तैयार कर प्रस्तुत किया गया।

छत्तीसगढ़ में राजनैतिक दलों से संवाद

2 अप्रैल 2009 को रायपुर, छत्तीसगढ़ में पैरवी व अन्य स्थानीय संस्थाओं द्वारा छत्तीसगढ़ की वर्तमान समस्याओं के संदर्भ में राजनैतिक दलों के साथ संवाद के लिए बैठक का आयोजन किया गया, जिसमें मुख्यतः छत्तीसगढ़ में जनवितरण प्रणाली, नरेगा, जल आपूर्ति एवं सूचना के अधिकार के क्रियान्वयन व व्याप्त अनियमितताओं के संदर्भ में राजनैतिक दलों की जवाबदेही व प्रतिबद्धता पर चर्चा की गई। स्थानीय संस्थाओं द्वारा इन विषयों पर छत्तीसगढ़ की वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डाला गया। उपस्थित राजनैतिक दलों के प्रतिनिधियों ने व्यवस्थाओं को सुदृढ़ करने व आम आदमी तक पहुँचाने के लिए कदम उठाने का आश्वासन दिया।

अधिकार आधारित दृष्टिकोण पर कार्यशाला

9–11 अप्रैल को नई दिल्ली में आधारित आधारित दृष्किोण का आयोजन किया गया, जिसमें भारत के विभिन्न राज्यों के साथ-साथ नेपाल की संस्थाओं के प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया। इस कार्यशाला में शामिल प्रतिनिधियों ने अधिकार आधारित दृष्टिकोण को अपनाते हुए कार्य करने के अपने अनुभव साझा किये व अपूर्ण जानकारी के अभाव में कार्यप्रणाली में आने वाली दिक्कतों पर प्रकाश डाला। इस कार्यशाला में कार्यप्रणाली में अधिकार आधारित दृष्टिकोण को शामिल करने की प्रक्रिया, इसके महत्व व आवश्यकता व समझ विकसित करने के संदर्भ में वृहद चर्चा के रूप में प्रशिक्षण प्रदान किया गया।

डरबन समीक्षा सम्मेलन के संदर्भ में बैठक

20–24 अप्रैल 2009 को जिनेवा में आयोजित डरबन समीक्षा सम्मेलन में भारत में नस्लभेद की स्थितियों को प्रकाश में लाने के संदर्भ में 13 अप्रैल को नई दिल्ली में भारत के विभिन्न राज्यों में दलित समुदाय के साथ कार्यरत संगठनों के साथ एक बैठक का आयोजन किया गया, जिसमें संगठनों ने अपने-अपने क्षेत्रों में भेदभाव की स्थिति पर प्रकाश डाला। इस बैठक में नस्लभेद समाप्ति में डरबन सम्मेलन की भूमिका व समीक्षा सम्मेलन में स्वयं सेवी संस्थाओं की भूमिका व सहभागिता पर भी वृहद चर्चा की गई। चर्चा के उपरांत डरबन समीक्षा सम्मेलन में प्रस्तुत करने के लिए दस्तावेज़ भी तैयार किया गया। इस बैठक में श्री के.बी. सक्सेना (पूर्व सदस्य, योजना आयोग) ने दलित समस्याओं के संदर्भ में राजनैतिक प्रतिबद्धता पर चर्चा करते हुए कहा कि इस दिशा में बेहतर स्थिति निर्माण के लिए इस तरह के अंतर्राष्ट्रीय प्रयासों के साथ-साथ ज़मीनी स्तर पर अधिक सघनता के कदम उठाये जाने की आवश्यकता है।

आगामी गतिविधियाँ

- बाल अधिकारों की सुरक्षा के संदर्भ में म.प्र. में बाल-विवाह की स्थितियों पर जून, 2009 में एक शोध- अध्ययन।
- राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार गारंटी योजना में मज़दूर वर्ग की सहभागिता व व्याप्त अविश्वसनीयता के संदर्भ में बिहार-झारखण्ड में अध्ययन।
- जुलाई 2009 में एडवोकेसी पर राष्ट्रीय कार्यशाला।

(सीमित प्रसार के लिए प्रकाशित)

i|joh

जी–30, प्रथम तल, लाजपत नगर III,

दिल्ली–110024

फोन : 011-29841266, 65151897

ई–मेल : pairvidelhi@rediffmail.com

pairvidelhi1@gmail.com

वैबसाईट : www.pairvi.org

Book-Post